प्रसंग

निजीकरण एवं बाजारवादी दौर ने शिक्षा के क्षेत्र में भी चुनौतियां उपस्थित की हैं। शिक्षा के क्षेत्र में भी पूर्णत: दो समानान्तर दुनिया दिखाई देती हैं। एक ओर बहुत से बच्चे अभी तक भी स्कूल की दहलीज तक नहीं पहुंच पाए हैं तो दूसरी ओर चकाचौंध करने वाली व्यवस्थाएं भी रची जा रही हैं। क्या यह प्रलाप सी लगने वाली मांग अनुचित है कि सभी बच्चों को समान शिक्षा मिले ?

शिक्षा व्यवस्था में विषमता

❑ डॉ. सौभाग्यवती

वर्तमान राजनैतिक-सामाजिक और सांस्कृतिक ढांचे में आमूलचूल परिवर्तन किए बिना असमानता व शोषण को मिटाने के लिए जो भी प्रयास किए जाते हैं, उनसे परिणामत: विषमता की खाइयां और अधिक गहरी हुई हैं। यह स्थिति अन्य मुद्दों की भांति शिक्षा के क्षेत्र में किए गए अधकचरे प्रयासों पर भी लागू होती है। इसका कारण यह है कि हमारे प्रयासों से वे ही ताकतवर बने हैं जो पहले से ही अधिक सक्षम थे।

आजादी के गत 58 सालों में हमारी सरकारों ने एक के बाद एक कई तरह के प्रयोग, परीक्षण और प्रतिमानों को शिक्षा के संदर्भ से जोड़ने की कोशिशें कीं लेकिन अभिजात्य हितों को प्रमुखता देने के कारण ही देश में सभी तबकों के बच्चों की पहुंच शिक्षा तक नहीं हो पाई। कहना न होगा कि सामाजिक अन्याय की स्थिति में विषमता मूलक शिक्षा पद्धति से निरन्तर गैर-बराबरी की बढ़ोतरी होती रही है। शिक्षा विकास के रथ का पहिया तो है, लेकिन वर्तमान में इस पहिए की गति पर जनतांत्रिक शक्तियों का अधिकार न होकर प्रभावशाली एकाधिकार उन्हीं सामन्तों और पूंजीपतियों का है जो सामाजिक ढांचे में उच्च हैसियत रखते आए हैं।

ध्यान देने कि बात है कि 1966 में कोठारी आयोग ने सुचिन्तित ढंग से जिन महत्त्वपूर्ण और मौलिक, बुनियादी ढांचागत जरूरतों व धर्मनिरपेक्ष मूल्यों को शामिल करते हुए पाठ्यक्रम की दिशा को सूचीबद्ध किया था, उसको सत्ताधारियों ने स्वीकार्य नहीं बनने दिया। यही कारण है कि विशाल आबादी वाले विकासशील भारत में जहां गरीबी आज भी पर्याप्त रूप से व्याप्त है, गरीबों के बच्चे करोड़ों की तादाद में निरक्षर और पिछड़े हुए हैं। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि हमारे देश में साक्षरता दर मूने स्लो की नवीनतम रिपोर्ट के अनुसार मात्र 50 प्रतिशत है, 20 करोड़ बच्चों में से एक चौथाई प्राथमिक शिक्षा से वंचित हैं। अभी भी देश में कम से कम एक लाख से अधिक बस्तियां और टीलों में एक किलोमीटर की दूरी तक कोई स्कूल नहीं है। प्राय: गरीबी के कारण माता-पिता बच्चों से (हजारों की संख्या में) मजदूरी कराने को मजबूर होते हैं। क्या हमें उन कारणों पर विचार नहीं करना चाहिए जो सामान्य निर्धनों के बच्चों की शिक्षा की राह में बाधक बने हुए हैं ? क्या यह शर्मनाक नहीं है कि सर्वाधिक आबादी वाले देशों में सबसे ज्यादा निरक्षर आज भी भारत में रहते हैं और पूरी दुनिया के निरक्षरों में से 33 प्रतिशत भारत में ही विद्यमान हैं, जबकि विश्व की सबसे बड़ी जनसंख्या वाले देश चीन में भी यह आंकड़ा 11 प्रतिशत का है। हमसे कहीं गरीब बांग्लादेश वर्तमान में अपनी प्राथमिक शिक्षा का स्तर 90 प्रतिशत तक पहुंचा चुका है। हमारे हास्यास्पद प्रयासों का नमूना आंकड़ों की बाजीगरी इस तरह पेश करता है कि यदि कोई लड़का अपना नाम लिखना सीख जाता है तो उसको अनपढ़ होने के दायरे से बाहर कर दिया जाता है।

हाल ही में हमारे प्रधानमंत्री मनमोहन जी ने कहा था कि आर्थिक सुधार जारी रहेंगे लेकिन उनका चेहरा मानवीय बनाया जाएगा। पर विवेकशील जन यह नहीं समझ पाता कि उदारीकरण के अन्तर्गत गलाकाट बाजारवादी प्रतिस्पर्धा के वर्तमान माहौल में शिक्षा जैसे संवेदनायुक्त मानवीय कारक को कैसे इंसानी शक्ल दी जा सकेगी? अनिवार्य शिक्षा के संदर्भ में भी औपचारिक तथा अनौपचारिक शिक्षा की असमान स्थितियां सुस्पष्ट दिखाई दे रही हैं। देश में शिक्षा की दोहरी व्यवस्था जिसमें दलितों और समाज के अन्य शोषित-पीड़ित समूहों को शिक्षा से वंचित किया जाता है, उसकी निन्दा करते हुए हर चेतनाशील नर-नारी को उसके खिलाफ सार्वभौम शिक्षा का कानून बनाने की मांग बुलन्दी से उठानी चाहिए।

उल्लेखनीय है कि न केवल समाजवादी देशों में बल्कि विकसित पूंजीवादी देशों में भी शिक्षा पर सार्वजनिक खर्च किया जाता रहा है ? तब जॉर्ज वांशिगटन ने आह्वान किया था कि इसके लिए जनसामान्य में शिक्षा का प्रसार किया जाए और नागरिकों को

शिक्षित किया जाए, क्योंकि सामाजिक व्यवस्था और अनुशासन कायम करने का काम सेना तथा पुलिस द्वारा नहीं किया जा सकता। जनजीवन की शिक्षा ही इसका आसान तरीका है। ब्रिटेन जैसे देशों में आज भी सर्वाधिक खर्च शिक्षा की मद में किया जाता है। यहां तक कि छोटे-छोटे देश भी शिक्षा में हमसे कहीं ज्यादा फंड आवंटित करते हैं, जैसे फिलीपीन्स में सकल घरेलू उत्पाद का 17 प्रतिशत और श्रीलंका में 8.20 प्रतिशत हिस्सा शिक्षा पर खर्च किया जाता है, जबकि भारत में सकल घरेलू उत्पाद का 2.10 फीसद हिस्सा ही शिक्षा पर खर्च किया जाता है।

याद रहे कि वर्तमान सप्रंग सरकार को सत्तासीन होने का जनादेश इसलिए मिला है कि वह धर्म निरपेक्ष मूल्यों को बरकरार रखे तथा जनोन्मुखी आर्थिक नीति की स्थापना करे। यदि शिक्षा के क्षेत्र में गैर-बराबरी को खत्म नहीं किया गया तो सामाजिक अन्याय की विकरालता किसी दिन विस्फोट का रूप धारण कर सकती है और सरकार भी अपनी जवाबदेही में विफल हो सकती है। यह जनादेश के प्रति विश्वासघात का ही रूप माना जाएगा।

देखने में आ रहा है कि हजारों की संख्या में देश के महानगरों में तथा कहीं कहीं नगरों में भी निशुल्क या कौड़ी के मोल खरीदी गई लम्बी-चौड़ी सरकारी जमीनों में निजी स्कूल इस शर्त पर चार या पांच दशकों से चल रहे हैं कि वे अपने समीपवर्ती गरीब बच्चों को अपनी कुल भर्ती का 25 प्रतिशत प्रवेश दें। इन गरीब बच्चों का दाखिला और पढ़ाई बिना किसी शुल्क के किए जाने की शर्त भी रखी है। लेकिन उक्त लम्बी समयावधि में कभी भी सरकार ने शर्त का पालन न करने पर इन स्कूलों के प्रबंधकों के प्रति कोई कदम उठाने की कार्यवाही नहीं की। कुछ समय पूर्व सुप्रीम कोर्ट का एक फैसला आने पर ही सरकार कुछ हरकत में आई, लेकिन अभी तक जमीनी स्तर पर कोई कारगर कदम गरीब बच्चों के हित में नजर नहीं आया।

निजी स्कूलों में पांच सितारा होटलों जैसी सुविधाएं छात्रों को प्रदान की जाती हैं, जबकि हमारे पिछड़े इलाकों और गांवों के अनेक प्राथमिक स्कूलों में तो छात्रों को बैठने के लिए टाट-पट्टियां भी मुहैया नहीं की जाती। दरअलस, हम कोई समान शिक्षा प्रणाली इसलिए भी विकसित नहीं कर पाए कि सबसे विवादास्पद बिन्दु खासतौर से स्कूली शिक्षा में भाषाओं के अध्ययन का रहा, जो आज भी मौजूद है। मातृभाषा, प्रादेशिक भाषा एवं देश की मिट्टी से उपजी राष्ट्रभाषा हिन्दी के ऊपर विदेशी भाषा अंग्रेजी का प्रभुत्त्व आज भी कायम है। हमारे अंग्रेजी मोह ने देश की कई भाषाओं को उपेक्षित तथा तिरोहित होने की स्थिति में पहुंचा दिया है।

उल्लेखनीय है कि देश की 50 प्रतिशत आबादी 25 साल से कम उम्र वाली है और उस आबादी को सामाजिक न्याय तथा शिक्षा से वंचित रखना समाज के लिए अत्यन्त घातक होगा। शिक्षा के व्यावसायीकरण तथा निजीकरण ने मुनाफाखोर व्यापारी समूहों को भारी स्वायत्तता प्रदान कर दी है। इसलिए जरूरत इस बात की है कि शिक्षा को बचाने के लिए और भ्रष्टतम बढ़ते विकास को विफल बनाने के लिए एक प्रगतिशील केन्द्रीय कानून बनाने की पुरजोर मांग की जाए।

यह दुर्भाग्य ही है कि हमारा देश अवांछनीय क्षेत्रों में ही आगे बढ़ रहा है। विश्व के कुल कुष्ठ रोगियों का 70 प्रतिशत हिस्सा भारत में रहता है। विश्व के कुल तपेदिक रोगियों का 30 प्रतिशत हिस्सा भारत में रहता है। विश्व के एक तिहाई से भी अधिक कुपोषित बच्चे भारत में ही हैं तथा 80 प्रतिशत बीमारियां भारत में अशुद्ध पानी पीने से होती है और यह भी कि अशिक्षा के क्षेत्र में भी भारत विश्व में प्रथम स्थान पर हैं।

जब शिक्षा अन्य वस्तुओं की भांति कीमत चुका पाने की क्षमता के अनुसार हासिल की जा सकती है तो उसके परिणाम भी उसी के अनुरूप सामने आएंगे। प्रख्यात शिक्षा शास्त्री अनिल सदगोपाल ने बाजारवादी अमानवीय स्वरूप वाली वर्तमान शिक्षा के प्रति जो टिप्पणी की है, वह किसी भी शिक्षा प्रेमी के लिए गहन विचार का विषय हो सकती है। उनका कहना है कि, ''गैर-बराबरी वाली शिक्षानीति के अन्तर्गत दलित, आदिवासी, अन्य पिछड़े एवं अधिकांश अल्पसंख्यक बच्चे जिनमें दो तिहाई लड़कियां होंगी, को अब स्कूल के अलावा सब कुछ मिलेगा। इक्कीसवीं सदी के भारत में 5 से 10 प्रतिशत मध्यवर्गीय बच्चे सूचना क्रान्ति के अग्रदूत बनेंगे और विश्व बाजार की तकदीर संवारेंगे, जबकि भारत के अधिकांश बच्चे महज निरक्षर होकर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के उत्पादों पर चिपके हुए लेबिल पढ़ेंगे।'' तात्पर्य यह है कि उपभोक्तावादी शिक्षा ने न केवल शिक्षा की गुणवत्ता को समाप्त कर दिया है बल्कि गरीबी और अमीरी के बीच जिस तरह का कुत्सित भेद पैदा किया है, उसने अभावग्रस्त परिवारों की सन्तानों के बचपन और शैशव दोनों की जीवन शक्ति को कुचल दिया है।

पिछले दिनों अखिल भारतीय जनवादी महिला समिति के पूर्व उपाध्यक्ष प्रोफेसर चन्द्रा ने अपने एक शोध लेख में मुम्बई स्थित फोरम फोर फेयर एजुकेशन की जटिल जांचों का उद्घाटन करते हुए बताया था कि दिल्ली का एक प्रमुख कॉन्वेन्ट भारी भरकम डोनेशन दिए बिना किसी के भी न सिर्फ प्रवेश देने से इंकार करता है, बल्कि यह भी सुनिश्चित करता है कि महानगर में ऐसे किसी भी बच्चे को दूसरे किसी कॉन्वेन्ट में प्रवेश न मिलने पाए जिसके माता-पिता ऐसे भारी भरकम डोनेशन पर सवाल खड़ा करते हैं। वैश्वीकरण के तहत शिक्षा के बढ़ते व्यावसायीकरण को उन्होंने भारतीय प्रजातन्त्र को विघटित करने वाला कारक बताया।

शुद्ध लाभ के लिए चलाए जाने वाले स्कूलों ने एक ओर यह संदेश दिया है कि शिक्षा प्रतिभा और परिश्रम का इतना मामला नहीं, जितना कि पैसे का खेल है, तो दूसरी ओर शिक्षा के मानवीय और नैतिक स्तर को गिराने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। समाज के धनाढ़्य वर्ग के पास अन्धाधुन्ध, पर संदिग्ध स्रोतों से आए धन ने निरन्तर विभाजन और विघटन को ही बढ़ावा दिया है। सामान्य व्यक्ति के लिए यह सोचना भी कठिन है कि सात से नौ लाख रुपये का जुआ सिर्फ एक बच्चे को दाखिला दिलवाने के लिए कोई खेल सकता है।

दिल्ली, मुंबई, बंगलौर, गुड़गांव आदि शहरों में चलाए जा रहे राजसी स्कूलों को देखकर कोई भी शिक्षित-प्रशिक्षित व्यक्ति चकित हो सकता है क्योंकि कुछ वर्ष पहले तक इनकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। इस फंतासी शैक्षिक दुनिया की ख्याति दूर देशों तक भी फैल गई है और वे भी अपने बच्चों को अब इन स्कूलों में भेजने लगे हैं। फीस पांच लाख प्रति बच्चा, प्रति वर्ष अर्थात् दस साल में पचास लाख सिर्फ। ये स्कूल किसी भी विदेशी शिक्षा बोर्ड से संबंद्ध होने को स्वतंत्र हैं। इसमें स्वच्छन्दतावादी जीवन-दर्शन विकसित होता है तो होता रहे। छोटी कक्षाओं के बच्चों को भी यहां अपना भविष्य मालूम होता है, क्योंकि उनके धनाधीश माता-पिता की पूंजी ही उनके भाग्य का निर्माण कर देती है, इसलिए उन्हें संघर्ष या कल्पना की दुनिया से कुछ लेना-देना नहीं है। यहां के छात्रावासों के शयन कक्षों के तापमान को भी जरूरत के अनुसार घटा या बढ़ाया जा सकता है। वातानुकूलित अध्ययन कक्ष, टीवी, कंप्यूटर और इन्टरनेट की सुविधा वाले हैं। इन स्कूलों को वर्ल्ड क्लास कहा जाता है। क्योंकि शिक्षा के वैश्विक मानचित्र पर उनकी जगह बन चुकी है। जाहिर है कि ये मुट्ठीभर धनिकों के लड़के-लड़कियां तो वित्तीय दर्शन के आधार पर विदेश या स्वदेश में अपने को स्थापित कर लेंगे लेकिन समाज के उन करोड़ों वंचितों के बच्चों की तकदीर कौन संवारेगा ?

जब कभी सबके लिए आवश्यक शिक्षा सुनिश्चित करने की बात आती है तब सरकार की ओर से फंड न देने की बात कह दी जाती है। कुछ वर्ष पूर्व तापस मजूमदार कमेटी ने सभी के लिए शिक्षा के महत्त्वपूर्ण मुद्दे पर भारी वित्तीय बजट की चर्चा की थी तो सरकार के पास फंड नहीं था, लेकिन यदि सरकार सार्वजनिक क्षेत्र के खाते पड़े ऋणों की वसूली कर ले और बड़े लोगों के स्विस बैंक खाते में जमा धन को जब्त कर ले तो जनता पर कोई कर लगाए बिना ही यह आवश्यक राशि जुटाई जा सकती है। जरूरत बस इस बात की है कि हमारे शासकों में इच्छाशक्ति हो। इसके अतिरिक्त इस तरह का राजनीतिक फैसला तभी संभव हो सकता है जब राजनीतिक जन संघर्ष चलाया जाए।

यदि पीड़ितों और शोषितों को लोकतंत्र में न्याय नहीं मिलेगा तो उनके हक और हैसियत के सवालों का समाधान कैसे होगा ? प्रजातन्त्र की पहचान ही यह है कि वह हमेशा सामाजिक न्याय को सर्वोपरि स्थान देता है। यदि ऐसा नहीं होगा तो निश्चय ही भारतीय प्रजातन्त्र के माथे पर बहुसंख्यक हाशिए पर पड़े लोगों के प्रति सामाजिक अन्याय करने के कलंक का टीका लग जाएगा। हमें आश्वस्त होना चाहिए कि जनतंत्र के हिमायती और प्रगतिकामी लोग ऐसा नहीं होने देंगे।

यह आवश्यक है कि सामाजिक न्याय पर चर्चा और चिन्तन करते समय हम आरक्षण के अर्थ और स्थिति को अच्छी तरह समझ लें। यह इसलिए भी जरूरी है कि सामाजिक अन्याय के खात्मे और सामाजिक न्याय की स्थापना के उपरान्त अन्तत: आरक्षण को खत्म कर देना होगा। भारत के संविधान में दलित व आदिवासी वर्गों को अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के नाम से परिगणित करते हुए उन्हें न केवल सरकारी नौकरियों में बल्कि संसद और विधान सभाओं में भी आरक्षित सीटें दी गई हैं। ऐसा करने से उनको आर्थिक-सामाजिक तथा शैक्षिक क्षेत्रों में काफी हद तक सहूलियत मिली है, लेकिन आरक्षण एक ऐसा साधन है जो सामाजिक न्याय के लक्ष्य तक किसी को पहुंचाता है। वह स्वयं में लक्ष्य या मंजिल नहीं है । आजादी के बाद अनूसूचित जाति और अनुसूचित जन जाति दलितों और पिछड़े समूहों को समाज की मुख्य धारा से जोड़ने के लिए आरक्षण लागू किया गया था जिसकी समयावधि 10 वर्ष तक की थी लेकिन इस समय के अन्दर लक्ष्य पूरा न होने पर समयावधि बढ़ाने की भी छूट थी लेकिन गत पांच दशकों से भी अधिक समय में राजनीतिक पार्टियों ने आरक्षण के वोट जुटाने का हथियार बना लिया है। याद रहे, आरक्षण का प्रावधान अनन्त साल के लिए नहीं किया गया था और इसका अर्थ यही था कि सामाजिक न्याय की व्यवस्था के बाद सभी समूहों के लोग स्वावलम्बिता के आधार पर मानवीय गरिमा के साथ समाज में तनकर खड़े हो सकेंगे और आरक्षण की उपयोगिता समाप्त हो जाएगी, किन्तु ऐसा नहीं हो पाया और हम देख रहे हैं कि समाज में सवर्ण, असवर्ण सभी वर्गों के लोग आरक्षण की मांग कर रहे हैं। जो भी सरकार सत्ता में आती है वह भी आरक्षण के मार्फत अपना हित साधन करने में जुट जाती है। समय की मांग है कि आरक्षण का दूरगामी अर्थ समझते हुए सामाजिक न्याय के संदर्भ में शिक्षा को सही अर्थों में सरकार सभी के लिए समान और निशुल्क रूप से अनिवार्य बनाने की दिशा में अग्रसर हो। इसी स्थिति में ही आरक्षण को निरर्थक और अनुपयोगी बनाया जा सकता है। सामाजिक अन्याय के आधारों के कारण ही अभावग्रस्त लोग कायर, कमजोर और दीनहीन बनकर आरक्षण-आरक्षण का विलाप-प्रलाप करते हैं। इस दुर्गम स्थिति को शैक्षिक प्रगति के द्वारा खत्म किया जाना चाहिए। ◆